अंतःकरण का आयतन

प्रफुल्ल कोलख्यान

लोकल ट्रेन से सफर करना एक अद्भुत अनुभव हुआ करता है। इस अनुभव के लिए जरूरी है कि आँख कान सिर्फ खुले ही न हों, बल्कि प्रज्ञा भी पूरी तरह से चौकन्नी हो। नित्य यात्रियों को तरह-तरह की घटनाओं, जीवन-स्थितियों, चालाकियों आदि के बारे में सुनने-समझने का सहज मौका मिलता ही रहता है। सुबह में काम पर जाते समय लोग अधिक खिले-खुले और नींद से पल्ला झाड़ सपनों के सुरक्षावलय के बीच हँसते बतियाते रहते हैं। शाम को लुटे-पिटे सपनों के भग्नावशेष पर नींद की चादर डाले काम से लौटते लोगों के बंद मिजाज को कोई सहज ही पढ़ सकता है। सुबह की विश्व-विजयी मुद्रा के शाम तक पराभव के बोझ से दबी-सहमी होने की बात साफ-साफ पढ़ी जा सकती है।

कोलकाता में पूजा का माहौल बन रहा था। मैं हावड़ा में आयोजित एक कार्यक्रम में भाग लेकर घर लौट रहा था। रविवार का दिन होने के कारण भीड़ कुछ कम थी। वैसे भी बैठने की जगह मिल जाये तो भीड़ कम ही महसूस होती है! गाड़ी खुलने में अभी पाँच मिनट का समय बाकी था। तभी एक भद्र सज्जन पत्नी और बच्चे के साथ डब्बे में सवार हुए। पत्नी के बैठने की जगह तो नहीं थी, बच्चे को उन्होंने सीट की दो कतारों के बीच की जगह में खिड़की के पास जाकर खड़ा होने का निर्देश दिया। हाव-भाव से पत्नी कुछ चिड़-चिड़ाई हुई-सी लग रही थी, बच्चा कुछ रूठा हुआ-सा। बाड़ी (घर) पहुँचकर तूफान आयेगा यह एहसास उन महाशय को क्या हमें भी हो रहा था। जो अंतिम बात उन्होंने कही उसका आशय यह था कि आज के जमाने में बाजार जाना बहुत कठिन है। पूजा-बाजार क्या होता है? बाजार तो पैसा का है, यहाँ लोगों को खाने को नहीं मिल रहा है और बाजार सूझ रहा है। इतने के बाद तूफान के पहले की शांति छा गई। खिड़की के पास बैठे आदमी ने बिना किसी जान-पहचान के ही मुझ से अपना दुख बाँटना शुरू किया कि इस बार उसके घर में क्या होगा सोच-सोचकर दिल दहल रहा है। पिताजी शिक्षक थे पिछले साल रिटायर हुए हैं। माँ पूजा करती है। पत्नी-बच्चे मानेंगे नहीं। उधर सेठ घाटा की बात कर रहा है। बोनस नहीं बख्शिश मिलती थी। इस बार पता नहीं क्या मिलेगा। मैं सोचने

लगा कि ऐसी ही स्थिति में किसी ने कहा होगा, 'गैया रोए आप को, कसैया रोए आपको'।

उत्सव प्रिय बंगाल में पूजा का मौसम आते ही धूमधाम के साथ उल्लास की एक अंत:सलिला बहा करती है। ऐसी अंत:सलिला जिसमें दुख को स्थगित कर सुखसागर में डूबने-उतराने के सुअवसर हासिल होने का भ्रम मछली की तरह तैरा करता है। पूरे देश में और यहाँ भी उल्लास की यह अंत:सलिला अब धीरे-धीरे सूखती जा रही है। कोलकाता और आस-पास के अधिकतर लोगों की आजीविका का आधार चाकरी अर्थात नौकरी से बनता रहा है। जाहिर है, चाकरी की संभावना और सफलता ही उल्लास की गंगा का गोमुख रही है। इस संभावना के संकुचित होते ही उल्लास का कम होना स्वाभाविक ही है।

चारों ओर हाहाकार छाया हुआ है। कलकारखाने बंद हैं। जो खुले हुए हैं, वे भी बंदी के कगार पर हैं। कहीं बोनस का आकर छोटा हो गया है तो कहीं तनख्वाह का ही टोटा है। पुस्तक मेला और पूजा की खरीददारी के लिए साल भर लोग पैसा संचित करते हैं। जब साल भर अटक-अटक कर ही साँस लेने की नौबत रहे तो संचय कैसे हो! कैसे मने उत्सव, कैसे हो दुख स्थगित? पूजा में मनपसंद साड़ी नहीं मिलने या भावुक क्षणें की ऐसी ही किसी माँग के पूरी नहीं होने के कारण गृहणियों की आत्महत्या तक की खबरें भी आती रहती हैं। दिन-ब-दिन हाल बेहाल ही होता गया है। इस बार क्या होगा कहना मुश्किल है। लोग बाजार के मंदा होने को लेकर बात कर रहे हैं। मैं यह सोचकर परेशान हूँ कि इस आर्थिक सुस्ती और आर्थिक निष्क्रियता के कारण, असावधानी से लालटेन के गर्म शीशे पर पड़नेवाले पानी से चनकनेवाले शीशे की तरह कब किसका दिल चनक जाये। कोई बुरी घटना हमारे आस-पास हो जाये। उत्सव दुख की गहरी खाई को पार करने के लिए पुल की तरह होते हैं। यह पुल अब कमजोर हो गया है। जिंदगी इस थरथराती कमजोर पुल पर बहुत सहमकर पाँव धर रही है। शहर का निम्न-मध्य-वित्त मन माथे पर हाथ रखकर पूजा के दिन के शुभ-शुभ बीतने का इंतजार करता प्रतीत होता है।

गगनचारी लोगों के लिए पुलों के कमजोर होने का क्या अर्थ है! कभी वृद्धि का नाम लेकर तो कभी विकास का नाम लेकर कयास लगाये जा रहे हैं, दावे किये जा रहे हैं कि इस वित्तवर्ष में विकास की दर इतनी होगी तो, उतनी होगी। रोजगारहीन वृद्धि के पैरोकारों के लिए वृद्धि और विकास में क्या अंतर है? वे वृद्धि और विकास के अंतर को धुँधला कर रहे हैं। औपनिवेशिकता के ऐसे बहुत सारे सूक्ष्म प्रभाव होते हैं, जिनके होने को घाव खाये बिना समझा ही नहीं जा सकता है। राजनीति के ढाँचे में सामाजिक विकास की आकांक्षा की लोकतांत्रिक अंतर्वस्तु अर्थ और बुद्धि की अंतर्क्रिया

से पनपती है। हमारा देश राजनीतिक उपनिवेश से तो मुक्त हुआ लेकिन आर्थिक उपनिवेश और बौद्धिक उपनिवेश से मुक्त होने की दूर तक कोई संभावना नहीं दिखती है। हमारी भाषा और ज्ञान पर अंगरेजी की छाया मँडराती रहती है। ऐसे में हमारे विवेचन में भाषा-विभ्रम की खतरनाक गुंजाइश जिसे बेकन 'आइडोला फोरी' कहते थे के लिए हमेशा जगह बनी रहती है। इससे बचने के लिए फिर अंगरेजी के पास ही जाना पड़ता है। अंगरेजी के 'ग्रोथ' और 'डेवलेपमेंट' के अर्थ में अंतर को ध्यान में रखें तो वृद्धि को नापा जा सकता है, विकास को महसूस किया जा सकता है। वृद्धि ढाँचे में होनेवाला बाहरी फैलाव है और विकास अंतर्वस्तु की सघनता और गहनता की अक्षुण्णता का आंतरिक प्रसार। यह सच है कि बाहरी ढाँचे की वृद्धि से अंतर्वस्तु की सघनता और गहनता की अक्षुण्णता के प्रसार का सम्यक अवसर प्राप्त होता है। लेकिन यह तब होता है जब वृद्धि और विकास परस्पर संवादी, सहयोजी और अनुपूरक हों। पूँजीवादी सभ्यता का सच यह है कि इसके वृद्धि और विकास में एक दूसरे के विरोधी होने के घातक रुझान बनते हैं। इस रुझान के कारण ढाँचे का फैलाव तो बढ़ते रहता है और अंतर्वस्तु की गुणवत्ता सिकुड़ने लगती है। ऐसे में, वयवस्था के ढाँचे में वृद्धि होते रहने पर भी व्यवस्था के अंत:करण का आयतन छोटा होने लगता है। नतीजा, व्यक्तित्व के विकसित होते रहने पर भी व्यक्ति के अंत:करण का आयतन छोटा होने लगता है।

विद्वान लोग 'अंत:करण की कंस्टीट्यूएंसी' की बात कर रहे हैं। इस बात को मुक्तिबोध की कविता 'अंत:करण का आयतन' को बाद देकर ग्रहण कर पाना बहुत ही कठिन है। सामाजिक सामरस्य के स्रोत सूखते जा रहे हैं। ऐसे में हर किस्म के अपराध भी बढ़ जाते हैं। 'दिल्ली' शब्द से अधिक उत्तेजित होकर एक बार दिल्ली जा रही रेल के इंजिन को पानी के मुद्दे पर आंदोलनरत कर्नाटक किसानों की टोली ने एक बार आग लगा दी थी! 'दिल्ली' अब इस तरह से उत्तेजित कर रही है, वह भी किसानों को! इस सभ्यता की यह कैसी विडंबना है कि एक ओर जिंदगी निस्तेज हो रही है और दूसरी ओर उत्तेजना खतरनाक हदों की तरफ बढ़ रही है! निस्तेज उत्तेजना की प्राणघातक चपेट में पड़ती जा रही है सभ्यता! लोग जब यह ठीक-ठीक समझ जायेंगे कि सत्ता-समूहों के द्वारा बहुप्रचारित विकास की यह रेल कहीं और नहीं बस 'दिल्ली' ही जाती है, तब क्या होगा! क्या हमारे विकासदूतों के अंत:करण के आयतन में इतनी जगह है कि वे 'दिल्ली' के इस पाठ में सर्वसाधारण के दैनंदिन के सुख-दुख को समा सकें! उससे भी अधिक चिंता की बात है कि अपने खुद के अंतःकरण के आयतन में हो रहे संकोच को हम ठीक से समझ नहीं पा रहे हैं। छोटा मन और बड़ी चाहत कैसे टिकेंगे हम!

दुख की गहरी खाई को पार करने में पुल की तरह काम आनेवाले उत्सव कैसे बचें। कैसे मने परब-तीज-त्यौहार! न, यह कोई आज की ही बात नहीं है, 1953 में लिखी बाबा नागार्जुन के काव्यांश की याद करें तो, स्थिति यह है कि खर्चा के डर से बच्चों को कुछ भी नहीं पढ़ाते हैं/ चाँदी तो क्या, टलहा तक की औंठी नहीं गढ़ाते हैं/ परब-तीज-त्यौहार नहीं तंगी के कारण भाते हैं/ तबियत बहलाने के खातिर तुलसी के पद गाते हैं// ... // सुजला-सुफला शस्य-श्यामला माँ के गुन तब गाएँगे ...

अंतःकरण के छोटे होते जा रहे आयतन में सुजला-सुफला शस्य-श्यामला माँ के गुन कब समाएँगे ...

सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान